Multidisciplinary International Magazine
(Peer-Reviewed)
ISSN: 2454-2725, Impact Factor: GIF 1.888
www.jankriti.com
Volume 6, Issue 69-70, Jan-Feb 2021

JANKRITI जनकृति

बहु-विषयक अंतरराष्ट्रीय पत्रिका
(विशेषज्ञ समीक्षित)
ISSN: 2454-2725, Impact Factor: GIF 1.888
www.jankriti.com
वर्ष 6, अंक 69-70, जनवरी-फरवरी 2021

आधुनिक कविता और लोकभाषाएँ

डॉ संतोष कुमार
शहीद भगत सिंह कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल:
santosh106@gmail.com
मोबाइल: 8851027457

शोध सारांश :

भाषा पर हुए सर्वेक्षण इस बात को स्वीकार करते हैं कि भूमंडलीकरण के प्रक्रिया ने आधुनिकता से दूर रही लोक भाषाओँ के अस्तित्व लिए संकट पैदा कर दिया है. यह संकट उस संस्कृति के लिए भी है जिनका प्रतिनिधित्व ये भाषाएँ करती रही हैं. आधुनिक कविता ने लोक भाषा में विन्यस्त जीवन, भाषा की अनेक रंगतों और संस्कृति की अनेकानेक विशेषताओं को क्षरित और लुप्त होने से बचाने के लिए उन्हें अपने दामन में समेटने की कोशिश की है. इस बात की इस रूप में भी कह सकते हैं कि आधुनिक कविता की मुख्य धारा लोक से अपना जीवन रस खींचती रही है. हिंदी कविता के परिसर में लोक और आधुनिकता के मुखामुखम के अनेक प्रमाण भारतेदु काल से लेकर आज तक की कविता में दिखाई देते हैं. आधुनिक कविता और लोक के आपसी संवाद से जहाँ एक तरफ लोकजीवन और लोकसंस्कृति की अनेक रंगतें और विशेषताएं मुख्य धारा की आधुनिक हिंदी कविता में संरक्षित होती हैं वहीँ दूसरी तरफ लोक के कारण आधुनिक हिंदी कविता भी एक नये कलेवर, नयी संवेदना और भाषा की नयी भंगिमाओं से समृद्ध होती है. आधुनिकता और लोकपरंपरा की आपसी अंतर्क्रिया भारतीय आधुनिकता का एक विशिष्ट वातायन है.

बीज शब्द : *भूमंडलीकरण, बहुभाषिकता, बहुसांस्कृतिकता, लोकभाषा, कजली, लावनी, होली, कबीरा, बारहमासा.*

प्रस्तावना :

हमारा समय भाषाओं के मरते जाने का समय है. यूँ तो सृजन और विनाश को प्रकृति का नियम ही माना गया है लेकिन भूमंडलीकरण के सर्वग्रासी अभियान का एक दुष्प्रभाव यह भी पड़ा है कि इसने भाषाओं और संस्कृतियों को बड़े पैमाने पर नष्ट करना शुरू कर दिया है. आज दुनिया की भाषिक और सांस्कृतिक विविधता संकट में है. विडम्बना यह है कि यह सब तब हो रहा है जब भूमंडलीकरण की आर्थिकी और राजनीति बहुभाषिकता तथा बहुसांस्कृतिकता के संरक्षण और संवर्धन का बढ़ -चढ़ कर वकालत कर रही है. यूनेस्को के बहुचर्चित रपट में भी दुनिया की अनेक भाषाओं के लुप्त होने के खतरे की ओर संकेत किया गया है और यह खतरा बहुत भयावह किस्म का है. यूनेस्को के रपट में 196

भारतीय भाषाओं को खतरे में बताया गया है. 2001 के भारतीय जनगणना के हिसाब से 122 भारतीय भाषाएँ खतरे में हैं। ऐंथ्रोपोलॉजिकल सर्वे ऑफ़ इंडिया के अनुसार 324 भारतीय भाषाओँ पर खतरा मंडरा रहा है.[1] संख्या चाहे कुछ भी हो, सभी सर्वे और रपट इस बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि भारत की अनेक भाषाएँ खतरे में हैं. एक भाषा के विलुप्त होने का अर्थ है कि उस भाषा में विन्यस्त सम्पूर्ण ज्ञान राशि और संस्कृति का नष्ट हो जाना. इस तरह सोचने पर इस भाषायी संकट की भयावहता का पता चलता है. यही नहीं इससे हमारी विविधता के भी खतरे में होने का प्रमाण मिलता है. भाषायी और सांस्कृतिक विविधता के नष्ट होने का असर हमारे लोकतंत्र पर भी पड़ना लाजिम है. इससे लोकतंत्र अंततः कमजोर ही होता है. अनेक माध्यमों से इस सांस्कृतिक विविधता को बचाने के अकादमिक प्रयास भी शुरू हुए हैं. एक भाषा का साहित्य दूसरी भाषा व् बोली में ताक-झांक करके सांस्कृतिक आदान प्रदान को संभव करता है. साहित्य भी शब्दों के माध्यम से जीवन और संस्कृति को विन्यस्त करता है. किसी भाषा का साहित्य उस भाषाई दुनिया का लिखित दस्तावेज होता है. वह उस भाषाई दुनिया की विशिष्टताओं, परम्पराओं, नवाचारों, मान्यताओं, भाव व् विचारों से स्पंदित होता है. साहित्यकार इन सांस्कृतिक विशेषताओं को दर्ज करते हुए इन्हें लुप्त होने से बचाते हैं. इस अर्थ में वे भाषा और संस्कृति का संरक्षण करते हैं. आधुनिक हिंदी कविता भी इसी अर्थ में हिंदी प्रदेश की संस्कृति का संरक्षण करती है. वह इसके लिए हिंदी प्रदेश की बोलियों से शब्द , लय, शिल्प, बिम्ब, छवि आदि लेकर अपनी शक्ति और समृद्धि बढाती है लेकिन इन्हें दर्ज करते हुए इनका संरक्षण भी करती जाती है. वह इन्हें नए पाठकों और श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत करके लोक भाषा के सीमित भूगोल का विस्तार करती है. इस अर्थ में वह लोकभाषा और लोक संस्कृति को नया जीवन प्रदान करती है. इस शोध आलेख में आधुनिक हिंदी कविता और लोकभाषाओं के आपसी सम्बन्ध को समझने का प्रयास किया गया है. हिंदी क्षेत्र की लोकभाषाओं ने हिंदी भाषा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है. हिंदी इन लोकभाषाओं से ही अपना जीवन रस खींचती रही है. हिंदी भारतीय आधुनिकता की बेटी है और आधुनिकता के उदय के साथ ही खड़ी बोली हिंदी कविता की भाषा के रूप में विकसित हुयी. अपने इस विकास के लिए वह अपनी लोकभाषाओं की ऋणी है. इस आलेख में आधुनिक हिंदी कविता और हिंदी के लोक के बीच के बहुस्तरीय सम्बन्ध को समझने का प्रयास किया गया है. यह संबन्ध शब्द, लय, शिल्प, छवि, बिम्ब, काव्य रूढ़ि आदि अनेक स्तरों पर दिखाई देता है.

हिंदी काव्य परंपरा और लोकभाषा :

हिंदी कविता का लोक भाषा के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है. आदि काल में सिद्धों-नाथों और योगियों ने लोकभाषा के माध्यम से ही अपने संप्रदाय का प्रचार किया. इसके बाद भक्तिकाल के

[1]http://www.thehindu.com/news/national/karnataka/ciil-to-document-500-endangered-languages/article5723168.ece

कवियों ने लोकभाषाओं को ही अपनी कविता का माध्यम बनाया. इस दौर में लोकभाषाएँ ही लोकजागरण का माध्यम बनीं. कबीर जैसे कवियों ने बड़े आत्मविश्वास के साथ "संस्कृत कूप जल भाखा बहता नीर" कहकर लोकभाषा के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया. लोकभाषा को प्रतिष्ठित करने में महती योगदान सूफी संतों का भी रहा है. सूफियों ने लोकनायकों और लोककथाओं को अपनी कविता का उपजीव्य बनाया. संत और सूफी कवियों के इन प्रयासों का परिणाम यह हुआ कि पहली बार साहित्य, भक्ति, धर्म और दर्शन की देहरी में लोकभाषाओं का प्रवेश हुआ और लोकभाषाओं के माध्यम से पहली बार लोक की भागीदारी संभव हुई. लोक का सिर्फ प्रवेश ही नहीं हुआ बल्कि लोक ही भक्ति और कविता का केंद्र बन गया - "मोको कहाँ सीकरी सो काम, आवत जात पनहिया टूटी बिसर गयो हरिनाम". कुम्भनदास कह रहे हैं कि शहंशाह अकबर की राजधानी सीकरी में भक्ति संभव नहीं है. अतः वहाँ उनका कोई काम नहीं है. वे तो सत्ता व् शहर से दूर लोक में ही अपनी भक्ति और कविता की साधना में रम सकते हैं. लेकिन इसके बाद रीतिकाल की कविता दरबारों की शोभा बनती रही. वह लोक की ओर पीठ फेर कर दरबार और सत्ता की मुखापेक्षी बनी रही.

आधुनिक कविता और लोकभाषा :

भाषा में आधुनिकता के आगमन के साथ ही हिंदी कविता एक बार फिर लोक की ओर प्रवृत हुई. देश की उन्नति और समाज सुधार की नवीन चेतना ने हिंदी के साहित्यकारों को लोक को सम्बोधित करने को मजबूर किया. भारतेन्दु ने कविता को लोकोन्मुख करने में नेतृत्वकारी भूमिका निभाई. देश व् जातीय उन्नति के लिए साहित्यकारों की भूमिका का महत्त्व समझते हुए भारतेन्दु ने उनसे लोक की ओर देखने का आह्वान किया ताकि साधारणजन और स्त्रियों के बीच भी नवजागरण की चेतना का प्रसार किया जा सके. उन्हें जड़ता के अँधेरे से निकाले बिना देश का कल्याण संभव नहीं था. इसीलिए जातीय संगीत शीर्षक अपने निबंध में वे लोक की ओर ध्यान देने का आह्वान करते हुए लेखकों और कवियों से कहते हैं- "... इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छंदों में और साधारण भाषा में बनै, वरंच गँवारी भाषाओँ में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हों. कजली, ठुमरी, खेमटा, कँहरवा, अद्धा, चैती, होली, सांझी, लम्बे, लावणी, जाँता के गीत, बिरहा, चनैनी, गजल इत्यादि ग्राम्य गीतों में इनका प्रचार हो और सब देश की भाषाओं में इसी अनुसार हों अर्थात पंजाब में पंजाबी, बुंदेलखंड में बुंदेलखण्डी, बिहार में बिहारी, ऐसे जिन देशों में जिन भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें."[2] भारतेन्दु के इस आह्वान का असर हुआ और भारतेन्दु मंडल के साहित्यकारों ने लोक शैलियों को अपनी कविता के लिए अपनाना शुरू किया. कजली, होली, लावनी, आल्हा, चैती जैसी लोकविधाओं में भारतेन्दु- मंडल के कवियों ने अपनी लेखनी चलानी शुरू की. चौधरी बद्री नारायण

[2] ब्रज रत्न दास(सं), भारतेन्दु ग्रंथावली ,खंड -3, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वि.सं.2010 : 936

उपाध्याय 'प्रेमघन' ने इन लोकविधाओं में अनेक गीतों की रचना की. वर्षा ऋतु में गाए जाने वाले लोकगीत कजली की रचना को उदहारण के रूप में देखा जा सकता है -

ऋतु आई बरखा की नियराई कजरी। ।
सब सखियाँ मचाई कजरी।
लगीं चारो ओर सरस सुनाई कजरी।।
नभ नवल घटा की छबि छायी कजरी।
पिया प्रेमघन !आवो मिल गाई कजरी।।[3]

कजली सावन में स्त्रियों द्वारा गाया जाने वाला लोकगीत है. पूर्वी उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर में यह बेहद लोकप्रिय है. प्रेमघन भी मिर्जापुर के ही रहने वाले थे. अतः कजली की रचना उन्होंने खूब की है. भारतेन्दु युगीन कजलियों के विषय प्रेम, श्रृंगार, विनोद, गो संकट निवारण, बाल विवाह, स्वदेश दशा आदि रहे हैं.

भारतेन्दु युगीन कवियों के लिए कजली के बाद दूसरी महत्वपूर्ण लोकशैली होली है. होली मुख्य रूप से अहीरों का लोक पर्व था जो आज भारत के कोने-कोने में फैल चुका है. यह फाल्गुन के महीने में मनाया जाता है. फाल्गुन महीने के पूर्णिमा के दिन सम्मत जलता (होलिका-दहन) है और उसके अगले दिन मिट्टी, गोबर, कदई, रंग - गुलाल के माध्यम से होली खेली जाती है. अतः इसे फगुआ भी कहते हैं. इस अवसर पर गाये जाने वाले गीत को कहीं-कहीं फ़ाग भी कहा जाता है. यह मस्ती,अश्लीलता और श्रृंगार का त्यौहार है. भारतेन्दु और चौधरी बदरी नारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' ने होली की लोक शैली में अनेक गीतों की रचना की है. इन गीतों में ब्रज की होली का गहरा प्रभाव है. राधा और कृष्ण क्रमशः नायिका और नायक के रूप में होली खेलते हुए दिखाए गए हैं. होली अथवा फगुआ को समुह में गाया जाता है लेकिन इस समुह का कोई अगुआ नहीं होता है. समुह में पहले एक व्यक्ति पहली पंक्ति गाता है और बाकी उसे दुहराते हैं. होली गायन की एक अन्य शैली भी है जिसमें दो समुह होते हैं. डॉ विमलेश कांति वर्मा होली गायन के इस स्वरूप के बारे में बतलाते हुए कहते हैं -- "इस गीत को प्रायः दो मंडलियाँ गाती हैं. एक मंडली गीत की एक पंक्ति प्रायः गाती है और दूसरी मंडली उसकी टेक दोहराती है और कभी- कभी गीत की एक-एक पंक्तियाँ एक-एक वर्ग कहता है और गीतों का क्रम चलता रहता है. होली गाने की इस शैली के कारण होली गीत दो शैलियां देखी जा सकती हैं. पहली शैली में तो टेक की पुनरावृति बार-बार प्रति पंक्ति के बाद होती है और दूसरी शैली में प्रति पंक्ति के अंतिम शब्दों की पुनरावृति होती है जिससे गायक गीत की लय को ठीक करता रहता है.

[3]श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय व् श्री दिनेश नारायण उपाध्याय 'साहित्य रत्न'(सं), प्रेमघन सर्वस्व,,हिंदी साहित्य सम्मलेन ,प्रयाग ,प्रथमावृत्ति 1996 वि.सं. : 493

इस प्रकार होली की दो शैलियां हैं और इन दोनों ही शैलियों के गीत भारतेन्दु युगीन कवियों ने लिखे हैं."[4] होली के अनेक लोक रूप हैं जो भारत भर में फैले हुए हैं. भारतेंदु युग के कवियों ने होली के इन विविध रूपों और शैलियों में भी अपनी लेखनी चलाई है. होरी भैरवी का एक उदहारण देखें -

बड़ो यह नटखट ढोटा है ,देखत छोटा है। टेक।।
श्री बदरी नारायण आली ,
होली के दिन आज कुचाली ,
पिचकारी मारी चटपट बहियां गहि लीनो रे ,
चुरियाँ करकाई हिय लगि ,अंगिया दरकाई रे ,
काह कहूँ नागर नट को ,अति खोटा है।[5]

इसी तरह प्रेमघन ने कान्हरा होली, घनाक्षी होली, होरी भैरवी आदि अनेक शास्त्रीय शैलियों में भी होली की रचना की है.

होली के अवसर पर ही कुछ जगहों पर कबीर गायन की परिपाटी भी मिलती है. कबीरा भी समुह में गाया जाता है लेकिन इसमें एक अगुआ होता है. होली की तरह यह श्रृंगारिक नहीं होता है. यह हास्य और व्यंग्य प्रधान होता है. इसमें एक तरह से भदेसपन और अश्लीलता की प्रधानता होती है. कबीरा के वर्ण्य विषय यौन अंगों से संदर्भित होते हैं. लेकिन भारतेन्दु युग के कवि नवजागरण और समाज सुधार की चेतना से प्रेरित होकर लोक को सम्बोधित कर रहे थे अतः उनकी कबीर-रचनाओं में अश्लीलता और यौन-संदर्भ की उपस्थिति नहीं है. इन कवियों का कबीरा मुख्यतः व्यंग्य और हास्य प्रधान है. बालकृष्ण भट्ट और चौधरी बदरी नारायण उपाध्याय 'प्रेमघन' ने कबीर की लोकशैली में अनेक कविताओं की रचना की है. बालकृष्ण भट्ट की एक रचना देखें --

बिना राज के दुनिया सूनी बिन मांझी के नाव ,
हिन्द स्वामिनी लन्दन बैठी कैसे होय नियाव ,
भला जिसका जी चाहे सो लूटै।[6]

[4]डॉ विमलेश कांति , भारतेन्दु युगीन हिंदी काव्य में लोकतत्व ,ऋषभचरण जैन एवं संतति , दिल्ली,1974 :64

[5]. श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय व् श्री दिनेश नारायण उपाध्याय 'साहित्य रत्न'(सं), प्रेमघन सर्वस्व, हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ,प्रथमावृत्ति 1996 वि.सं.: 622

[6] विमलेश कांति वर्मा, भारतेन्दु युगीन हिंदी काव्य में लोकतत्व , ऋषभ चरण जैन एवं संतति, ,दिल्ली ,1974 : 69

इन रचनाओं में देशभक्ति तो खैर बाई प्रोडक्ट है असल बात यह है कि कबीर की इस लोक शैली में लोकमन की अभिव्यक्ति -- महंगाई का दुःख, पटवारी के अन्याय, जमींदारों और हकीमों की जबरदस्ती, बनियों की बेईमानी आदि. उदाहरण के लिए बालकृष्ण भट्ट की इस रचना को देखें --

पाहिले सूखा फिर पनकलवा पीछे पड़ा दुकाला ,
चारा अँजुर नाज भा महंगा कौन करे प्रतिपाला ,
भला यह रैयत बिना गुसैंया की।[7]

लोकमन बेचैन है कि पहले सूखा, फिर बाढ़ और अब अकाल के बाद महंगाई इतनी बढ़ गयी है कि जानवरों के लिए चारा और आदमी के लिए एक अंजुरी दाना भी नसीब नहीं हो रहा है. ऐसे में कौन पालन करेगा ? ऐसा लगता है कि समूची रैयत (प्रजा) बिना गुसाईं (मालिक) के अनाथ हो गयी है. लोकमन की यह बेबसी और बेचारगी ही इन कविताओं में कई बार व्यंग्य और विद्रूप के रूप में सामने आती है. ध्यातव्य है कि कबीर नाम का एक छन्द भी होता है जो 27 मात्राओं का होता है. लेकिन इन लोक शैलियों में रचित इन रचनाओं का छंद से कोई लेना-देना नहीं है.

इसी फाल्गुन और चैत के महीने में चैती या चैता नामक लोकगीत को गाने की परंपरा रही है. इसका गायन भी होली और कबीरा की तरह समूह में ही होता है. इसमें हो रामा या हे रामा की टेक होती है अर्थात इन शब्दों को बार बार दुहराया जाता है. भोजपुरी लोकमानस में यह विशेष लोकप्रिय है. वहाँ इसे सामुहिक रूप से झाल (एक तरह का वाद्य)बजा कर गाया जाता है. मिथिला में भी चैती लोकप्रिय है. वहां इसे चैतावर के नाम से पुकारा जाता है. यह लोकगीत आम तौर पर श्रृंगार प्रधान या ऋतु प्रधान होता है. भारतेन्दु युगीन कवियों ने चैती की रचना अधिक नहीं की है. प्रेमघन के काव्य में चैती शैली की कुछ रचनाएँ मिलती हैं --

नाहक जियरा लगावत रामा बेदरदी के संग।। टेक।।
आशा में यह रूप सुधा के अपनहुँ मनवा गँवावल रामा (रामा)
अलक जाल मेहमान पंछी कहं बरबस आनी फंसावल रामा।
कबहूँ ना हंसी बोली प्रीतम रोवत जनम गवाँवल रामा।
बद्री नाथ प्रीति निरमोही सो करि हम भल पावल रामा।।[8]

[7] वही : 69
[8]. श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय व् श्री दिनेश नारायण उपाध्याय 'साहित्य रत्न' प्रेमघन सर्वस्व (सं),हिंदी साहित्य सम्मलेन ,प्रयाग ,प्रथमावृत्ति 1996 वि.सं.: 639

इन लोकगीतों के अलावे भारतेन्दु युग के रचनाकारों ने आल्हा जैसे शौर्य प्रधान लोक गीतों की शैली का भी अनुकरण किया है. आल्हा वीर रस प्रधान काव्य है. यह आल्हा और ऊदल नामक दो भाइओं की वीरता की कहानी है. यह ओज प्रधान शैली में गाया जाता है. इसकी संगत में मृदंग और ढोलक जैसे वाद्ययंत्रों का प्रयोग किया जाता है ताकि वीरता और ओज के भाव को प्रदीप्त किया जा सके. इस लोक शैली के अनुकरण का श्रेष्ठ उदहारण जगनिक का आल्हा खंड है. भारतेन्दु युग के रचनाकारों ने आल्हा शैली में अनेक गीत लिखे है. इसकी विशेषता यह है कि इसमें कुछ खास पदों का दुहराव होता है लेकिन वह चैती या दूसरे गीतों की तरह का नहीं है. इसमें जवानों सुनियो कान लगाय, यह सब धरती का प्रभाव आदि वाक्यांशों को समय समय पर दुहराया जाता है. जैसे प्रताप नारायण मिश्र के इस आल्हा को देखें --

खबरि फ़ैल गई यह कम्पू मां जवानों सुनियो कान लगाय।
अब न गैया मारी जैहैं करिहैं लाला लोग उपाय।।
कोउ कहै भैया यह न ह्वै है जालिम राज मलिच्छन क्यार।
कोउ कहे यही मां शंका नाहीं ईश्वर राखिहैं धर्म हमार।
कोउ कहे गोरा केहिका खै हैं को कोउ कहै राम रचै से होय।
ऐसे जे मुँह तै बातें रहि हांके अपनि सब कोय।।[9]

यों तो यह गीत आल्हा शैली में लिखा गया है लेकिन इसका वर्ण्य विषय गौरक्षा है. उस दौर में बनारस गौरक्षा आंदोलन का केंद्र था और हिंदी नवजागरण के अग्रदूत भी इससे अछूते न थे. प्रताप नारायण मिश्र का आल्हा इस ओर ही संकेत करता है. इन विषयों पर और भी अनेक रचनायें भारतेन्दु युग की कविताओं में मिलती हैं.

भारतेन्दु युग के कवियों ने लावनी गीतों की लोकशैली के अनुकरण में भी अनेक गीतों की रचना की है. लावनी का सम्बन्ध कृषक संस्कृति से है. धान की रोपनी और कटनी के समय लावनी गाया जाता है. मराठी में इसे लावणी भी कहा जाता है. भारतेन्दु ,प्रताप नारायण मिश्र और प्रेमघन ने अनेक लवनिओं की रचना की है. यह बेहद ही लोकप्रिय लोकगीत है. इसकी एक विशेषता यह है कि कवियों ने लावनी की रचना हिंदी, उर्दू, संस्कृत और ब्रजभाषा में की है. अधिकतर लावनियों का विषय शृंगार और भक्ति है. उदहारण के लिए प्रताप नारायण मिश्र रचित खड़ी बोली हिंदी की लावनी देखें --

[9] प्रताप लहरी : 213

हमने जिसके हित लोक लाज सब छोड़ी।
सब छोड़ रहे एक प्रीति उसी से जोड़ी।
रही लोक वेद घर बाहर से मुँह मोड़ी।
पर उन नहीं मानी सो तिनका सी तोड़ी।
इक हाथ लगी मेरे जग बीच हंसाई।
उस निरमोही की प्रीति काम नहीं आई।
करि निठुर श्याम सों नेह सखी पछताई।। [10]

प्रेम, शृंगार, और भक्ति के अलावे उस दौर में गौदशा, गौसंकट और गौप्रेम पर भी अनेक लावनियाँ लिखी गयी हैं.

इसके अतिरिक्त भारतेंदु युग के कवियों ने बारहमासा का भी कुछ अनुकरण किया है. बारहमासा एक ऐसी लोक शैली है जिसमे विरहिणी बारह महीनों के हिसाब से अपने विरह और दुःख का वर्णन करती है. जायसी ने अपने पद्मावत में इसी लोक शैली में नागमती के विरह का वर्णन किया है. स्वयं भारतेन्दु ने दो बारहमासों की रचना की है. वैसे उनके समय में बारहमासों की रचना कम ही हुई है.

इन लोकगीतों और लोक शैलियों के साथ आधुनिक हिंदी कविता ने अपना सम्बन्ध भारतेन्दु युग के बाद भी कायम रखा।सिर्फ कायम ही नहीं रखा बल्कि लोक के साथ अपने सम्बन्ध को नया विस्तार भी दिया. छायावादी कविता में चित्र और संगीत पर बहुत जोर दिया गया था. इन चित्रों और गीतों में भी लोक के विविध रूप को पहचाना जा सकता है. निराला ने भारतेन्दु युगीन लोकगीतों की शैलियों का अनुसरण करने की परंपरा को भी आगे बढ़ाया. उन्होंने एक कजली की रचना की. लेकिन उनकी कजली का विषय प्रेम अथवा शृंगार न होकर उस समय के युगधर्म के अनुरूप राजनीति ही है। 1940 के दशक में दूसरे विश्वयुद्ध के कारण महंगाई, आर्थिक तंगी और अन्न की कमी से जनता का बुरा हाल था. इस बुरे दौर में जनता को पूछने वाला कोई नहीं था. निराला को अपने नेता की याद आई. उन्होंने अपनी कजली में लिखा --

काले- काले बादल छाये, न आये वीर जवाहरलाल।
कैसे कैसे नाग मण्डलाये, न आये वीर जवाहरलाल ,
बिजली फन के मन की कौंधी, कर दी सीधी खोपड़ी औंधी ,
सर पर सरसर करते धाये, न आये वीर जवाहरलाल।

[10] वही : 85

पुरवाई की हैं फुफकारें, छन - छन ये बिस की बौछारें ,
हम हैं जैसे गुफा में समाये, न आये वीर जवाहरलाल।
महंगाई की बाढ़ बढ़ आई, गाँठ की छूटी गाढ़ी कमाई ,
भूखे -नंगे खड़े शरमाये, न आये वीर जवाहरलाल।
कैसे हम बच पायें निहत्थे, बहते गये हमारे जत्थे ,
राह देखते हैं भरमाये, न आये वीर जवाहरलाल।[11]

छायावादी कवि निराला की कविता में अन्तःसलिल लोक के अनेक चित्रों को देखा जा सकता है. एक प्रेममय लोक चित्र निराला के काव्य संसार से ही देखें --

बांधो न नाव इस ठांव बंधु
पूछेगा सारा गांव बंधु

यह घाट वही जिस पर हँस कर ,
वह कभी नहाती थी धँस कर ,
आँखे रह जाती थीं फँसकर ,
कंपते थे दोनों पांव बंधु।[12]

'बांधो न नाव इस ठाँव बंधु' शीर्षक इस कविता में निराला ने घाट पर नहाती हुई स्त्री का चित्र खींचा है. इस चित्र में निराला आँखों के फँसने की बात कर रहे हैं जो कि लोकभाषा का मुहावरा है. यहाँ महत्त्व सिर्फ चित्र का ही नहीं है अपितु इस कविता में लोक चित्र के साथ संगीत भी निहित है. संगीत और चित्र की संश्लिष्टता और लोक से उनकी सम्बद्धता इस कविता को विशिष्ट बनाते हैं. इस कविता के प्रेममय चित्र और स्निग्ध लय के ठीक विपरीत निराला के ही काव्य से एक और लोक चित्र देखें जो किसान जीवन के संघर्ष और खुरदुरेपन को दिखाती है. इस कविता की लय भी पहली कविता से विल्कुल विपरीत किसान जीवन के संघर्ष और झंझावात के भाव को प्रकट करने में सफल हुई है --

खेत जोत कर घर आए हैं

बैलों के कंधों पर माची

[11] राम विलास शर्मा (सं), राग विराग ,लोकभारती प्रकाशन ,इलाहबाद : 123
[12] नन्द किशोर नवल (सं),निराला रचनावली ,भाग -2 ,राजकमल प्रकाशन : 365

माची पर उल्टा हल रक्खा ;
बद्धी हाट ,अधेड़ पिता जी,
माता जी ,सर गट्ठल पक्का ;
पिता गए गौओं के गोंडे ,
माता घर ,लड़के धाए हैं।[13]

खेत से काम करके वापस घर लौटते किसान और उसकी पत्नी का यह लोकचित्र सिर्फ यथार्थवादी होने कारण ही महत्वपूर्ण नहीं है अपितु लोक के आत्मीय चित्रण के लिए भी उल्लेखनीय है.

हिंदी कविता को लोक और खेत-खलिहान की और ले जाने में प्रगतिशील कविता की बड़ी भूमिका रही है. नागार्जुन ,केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन के नेतृत्व में चलने वाली प्रगतिवादी काव्यधारा में लोक के अनेक रूप दिखाई देते हैं. नागार्जुन ने लोक के अनेक रूपों का अपनी कविता में बड़ी सर्जनात्मक उपयोग किया है. 'मुकरियां' लोक जीवन की सर्जनात्मकता का दिलचस्प उदहारण रहीं हैं. भारतेन्दु युग के कवियों ने इन मुकारियों का प्रयोग खूब किया है. बाद में इस परंपरा को नागार्जुन ने अपनाया. नागार्जुन ने इनका सर्वाधिक उपयोग अपनी राजनीतिक कविताओं में किया है. एक उदहारण देखते हैं --

बातन की फुलझड़िया छोड़े
वक्त पड़े तो चट मुंह मोड़े
छन में शेर छन में गीदड़
क्या सखि साजन? ना सखि लीडर[14]

अवध और भोजपुरी क्षेत्र में मुकरिओ का प्रयोग फगुआ के समय किया जाता है. इनके माध्यम से व्यंग्य -विनोद किया जाता है. नागार्जुन भी अपनी कविता में व्यंग्य-विनोद के लिए इस लोक शिल्प का प्रयोग करते हैं. इस मुकरी में नागार्जुन ने बिल्कुल सहजता व् विनोदपूर्ण ढंग से नेताओं की प्रवृति को स्पष्ट किया है. जाहिर है कि नागार्जुन ऐसा करने में सफल हो पाए हैं क्योंकि वे अपने कथ्य को लोक शिल्प के माध्यम से प्रस्तुत कर रहे हैं. इसी तरह मुकरी का एक और उदहारण देखें --

नहीं खुशामद ना दरबार

[13] नन्द किशोर नवल (सं), निराला रचनावली ,भाग -2 ,राजकमल प्रकाशन : 448

[14] शोभाकांत(सं), नागार्जुन रचनावली ,भाग -1, राजकमल प्रकाशन : 209

झुकने को है नहीं तैयार
मुँह पे चिढ़ अँखियन में लाली
का सखि साजन ? ना हड़ताली [15]

हड़ताल करने वाले लोगों की प्रवृति का शानदार चित्रण करने में सफल हुए हैं बाबा नागार्जुन. मात्र चार पंक्तियों में हडतालिओं की मानसिक दशा के साथ साथ उनके बाहरी रूप का चित्र खींचने में कवि कामयाब हुआ है. यही नहीं वे मन में चल रही भावनाओं को भी उस बाहरी रूप पर दर्शाने में सफल हुए हैं - मुँह पे चिढ़ अँखियन में लाली. प्रवृति, भाव और रूप के इस मिश्रण को इतनी सहजता और सरलता से चित्रित करने के कारण ही नागार्जुन जनकवि के रूप में विख्यात हुए. नागार्जुन का जनकवि लोक का बहुत ऋणी है. इसे अन्य उदाहरणों द्वारा भी समझा जा सकता है --

कांग्रेसजन तो तेणें कहिए, जे पीर आपणी जाणे रे
पर दुख में अपना सुख साधे, दयाभाव न आणे रे
तीन भुवन माँ ठगे सभी को, शरम ना राखे केनी रे
टोपी- कुर्ता- धोती खददर, धन धन जननी तेनी रे[16]

नरसी मेहता के प्रसिद्ध भजन 'वैष्णव जन तो तेणे कहिए ,जे पीड़ पराई जाणे रे' की कांग्रेसियों पर लिखी यह पैरोडी बेहद अर्थव्यंजक और मारक हो जाती है जब हम जान जाते हैं कि यह गाँधी का प्रिय भजन है और उनकी सभा में इसे रोज गाया जाता था. नागार्जुन की यह कविता भी इस भजन के लोकप्रसिद्ध धुन पर ही आधृत है और यही इस कविता की जनप्रियता का राज है. परिचित लय विधान का अनुकरण करने के कारण ये पंक्तियाँ सहज ही लोगों की जुबान पर चढ़ जाती हैं. लोकधुन का प्रयोग नागार्जुन ने अपनी राजनीतिक व् व्यंग्यधर्मी कविताओं में खूब किया है. 'चना जोर गरम' ...शीर्षक कविता में लोकधुन पर आधृत इस मारक व्यंग्य को देख सकते हैं --

चना जोर गरम प्यारे
मैं लाया मजेदार चना जोर गरम
चना खाएँ काँग्रेसी लोग
कि जिनमें दुनिया भर के रोग
साधते सत्य-अहिंसा-योग

[15] वही : 210
[16] वही : 213

लगाते फिर भी सब कुछ भोग
पहनते हैं ख़द्दर का चोग
नहीं है देश कोश का सोग
राज से ना हो जाय वियोग
इसी से फैलाते हैं फोग
वोट पाने का है उद्योग
भिड़ाते हैं छल बल का जोग
वतन को बना दिया बाजार
प्रजा को छोड़ दिया मझधार
चना जोर गरम ...[17]

इस कविता में नागार्जुन ने अपने व्यंग्य को धारदार बनाने और लोगों के बीच लोकप्रिय बनाने के लिए 'चना जोर गरम बाबू मैं लाया मजेदार' के लोक प्रसिद्द धुन को अपनी कविता का आधार बनाया है. आम तौर पर शहरी भाव बोध के कवि समझे जाने वाले अज्ञेय भी इस लोक से लगाव रखते हैं. 'काँगड़े की छोरियाँ' शीर्षक कविता में उनके लोक जीवन की आत्मीय छवि को देखा जा सकता है.

काँगड़े की छोरियाँ कुछ भोरियाँ सब गोरियाँ
लालजी ,जेवर बनवा दो खाली करो तिजोरियाँ !
काँगड़े की छोरियाँ !
ज्वार -मका की क्यारियाँ हरियाँ -भरियाँ प्यारियाँ
धन -खेतों में प्रहर हवा की सुना रही हैं लोरियां -
काँगड़े की छोरियाँ ! [18]

इस कविता में अज्ञेय काँगड़े की छोरियों के साथ -साथ उन दृश्यों को भी दर्ज कर रहे हैं जो लोक की विशेषता है. ज्वार और मक्का की हरी -भरी क्यारियाँ और धान के खेतों में हवा की लोरियाँ आदि ऐसी छवियाँ हैं जो धीरे-धीरे शहरीकरण के आगोश में समां रही है. इन्हें अपनी कविता में दर्ज करना एक तरफ तो इनके अस्तित्व को भाषा में बचाए रखने का जतन है वहीं दूसरी तरफ लोक की ये छवियाँ अज्ञेय की कविता को एक नयी रंगत भी प्रदान कर रहीं हैं.

[17] वही : 214
[18] कृष्ण दत्त पालीवाल(सं), अज्ञेय रचनावली (खण्ड -1),भारतीय ज्ञानपीठ : 307

1950-60 के दशक में ही जब नयी कविता की धूम मची थी, हिंदी कविता में अल्पचर्चित और प्रायः उपेक्षित नवगीत आंदोलन की शुरुआत हुयी. इन नवगीत के कवियों ने आधुनिकता, शहर केंद्रिकता और छंदहीनता के बरअक्स लोकजीवन और छंदमयता को अपनी कविता का आधार बनाया. इन कवियों ने लोकधुन पर आधारित कविता लिखने की भारतेन्दु कालीन परंपरा को पुनरायत किया है . बुद्धिनाथ मिश्र ने अपनी एक कविता में लोकविश्वास को जीवंत कर दिया है --

घर की मकड़ी कौने दुबकी /वर्षा होगी क्या ?
बायीं आँख दिशा की फड़की /वर्षा होगी क्या ?
सुन्नर बाभिन बंजर जोते /इन्नर राजा हो !
भुरलोटन पुरवइया सिंह की /वर्षा होगी क्या ?
लाज तुम्हीं राखो पियरी की /हे गंगा मइया ,
रेत नहा गौरैया चहकी /वर्षा होगी क्या ?[19]

इसी तरह ठाकुर प्रसाद सिंह अपनी एक कविता में संथाल परगना के एक चित्र को प्रेम कविता के माध्यम से प्रकट करते हैं --

मेरे घर के पीछे चन्दन है /लाल चन्दन है
तुम ऊपर टोले के /मैं निचले गॉव की
राहें बन जाती हैं रे /कड़िया पांव की
समझो कितना मेरे प्राणों पर बंधन है
आ जाना वंदन है /लाल चंदन है।[20]

इस कविता में लाल चन्दन के पेड़ का जिक्र उल्लेखनीय है. चन्दन मैदानी इलाके में नहीं होता है. यह झारखण्ड के संथाल परगना के जंगल की प्रकृति का चित्र है जो हिंदी कविता के भूगोल को विस्तृत कर रहा है. नवगीतकारों ने प्रवासीयों के नास्टॉल्जिआ को भी बेहद आत्मीयता से वर्णित किया है. अनूप अशेष अपनी एक कविता में ऐसे ही प्रवासी - स्वर में कहते हैं --

छूट गई जो /कोसों दूर /वह मेरे गाँव की हंसी थी।

[19] बुद्धिनाथ मिश्र(1994),शम्भुनाथ सिंह(सं), नवगीत दशक -3,पराग प्रकाशन,दिल्ली,1994 :103 -104
[20] ठाकुर प्रसाद सिंह(1979),'वंशी और मादल' ,पराग प्रकाशन,दिल्ली:1979:23

इस बलुही माटी ने /जिसको धोया-पोंछा ,
पुरखों के मोह छोह का /भीगा अंगोछा
अपनेपन की जिसमें /गंध -सी बसी थी
वह मेरे गाँव की हँसी थी।[21]

इस नवगीत के कवियों का गाँव घर से बहुत गहरा लगाव रहा है. लोक उनके प्राणो में रचा बसा है. तभी तो वीरेंद्र मिश्र गाँव के इस लोक विशवास को इतने स्पष्ट रूप से व्यक्त कर सके हैं --

आओ लक्ष्मी मैया /देवी सोन चिरैया
हमहू पर तुम कृपा करो तजि /सेसनाग की सैया
एक करें हम खून पसीना
काम धेनु है नहीं अपने घर
सीधी सादी गैया
आओ लक्ष्मी मैया।[22]

हिंदी कविता का समकालीन समय विमर्शों का दौर है. स्त्री विमर्श, दलित विमर्श और आदिवासी विमर्श ने एक नयी किस्म कि चेतना से हिंदी कविता को लैस किया है. इसने हिंदी की दुनिया में अनेक उत्तेजनापूर्ण बहसों को जन्म दिया है.लेकिन इन विमर्शों ने हिंदी कविता को एक बार फिर लोक के करीब लाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है. विमर्शों के कवियों ने ऐसे दृश्यों और शब्द चित्रों को हिंदी कविता के दायरे में लाया है जो अभी तक हिंदी पाठक के लिए अपरिचित थे. उदहारण के लिए समकालीन दौर के उभरते कवि अनुज लुगुन की कविता 'बाँस की गुड़िया' की इन पंक्तियों को देखा जा सकता है --

रात जब चाँद उतर आता था
हमारे आँगन में
तुम उसके जूट से बुन लेती थी
मेरे लिए नींद की बोरियाँ
लोरिओं की गठरी में लेटा हुआ
मैं ओस की बूँदों में घुलता था

[21] अनूप अशेष(1966),'वह मेरे गाँव की हँसी थी', पराग प्रकाशन ,दिल्ली:1966: 13
[22] वीरेंद्र मिश्र(1987) ,चन्दन है माटी मेरे देश की ,इंडोविजन ,ग़ाज़ियाबाद :1987, :81

खरगोश की नरम छुअन
पंडुकों के गीत
हाथिओं की चिंघाड़
सिंह की दहाड़
मेरे अंदर सहजता और साहस को
और अधिक हरा करती थी, ...[23]

अब तक हिंदी कविता का पाठक नींद के लिए दादी -नानी कि मीठी लोरियों से ही परिचित था . लेकिन लोरियों के साथ खरगोश की नरम छुअन, पंडुक की आवाज, हाथिओं की चिंघाड़ और शेर की दहाड़ के बीच सहज महसूस करना एक आदिवासी बच्चे के लिए ही संभव है. अन्यों के लिए तो शेर की दहाड़ और हाथिओं की चिंघाड़ दिल दहलाने वाले अनुभव हैं. इनकी आवाज सुनकर आती नींद भी भय से गायब हो जाएगी. हिंदी कविता के लिए यह अनुभव बिलकुल नया है .ऐसा लगता है गोया कविता आदिम अनुभूतिओं को पुनर्नवा कर रही हो. बहरहाल ! कविता को लोक के करीब ले जाने में इन विमर्शों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है जिसे अब तक अनदेखा किया जाता रहा है .

बारहमासा बहुत ही प्राचीन लोक शिल्प रहा है. इसमें बारह महीने के ऋतुओं के हिसाब से विरहिणी की विभिन्न दशाओं का वर्णन किया जाता है. विरह-गीतों को बारहमासा के माध्यम से प्रस्तुत करने की लोक की इस परंपरा को भक्त कवियों ने भी अपनाया था. जायसी के पद्मावत में नागमणी का विरह वर्णन बारहमासा का शानदार उदहारण है. बाद में भारतेन्दु युग में भी कुछ रचनाएँ इस शिल्प में रची गयीं. समकालीन कविता की महत्वपूर्ण हस्ताक्षर अनामिका ने हिंदी कविता में इस बारहमासा शिल्प के पुनराविष्कार का प्रयास किया है. आषाढ़ में धरती -1 ,सावन की पहली झड़ी ,भादो की शाम ,भादो ,खूँटी पर बरसाती : भादो शाम, आसिन, आसिन की दोपहरी, कातिक, कातिक की शाम, अगहन, पूस, माघ, फागुन, फागुनी बयार, चैत, चैत एक अनंत -सा प्रसव, बैसाख, जेठ -1, जेठ की दुपहरिया, जेठी पूर्णिमा, दुपहरिया जेठ की शीर्षक कविताओं में बारह महीनों की बारह ऋतुओं के आलोक में समकालीन जीवन को विन्यस्त किया है. ये कवितायेँ प्राचीन और अर्वाचीन के संगम का बेहद शानदार उदहारण प्रस्तुत करती हैं--

माघ

'जाड़ा रइया,

[23]http://kavitakosh.org/kk/ बाँस_की_गुड़िया_/_अनुज_लुगुन;22 नवम्बर 2017 को देखा गया .

तोरा डरे घेकुरी लगइया।'
लोकगीत में माघ राजा है बहुत कड़क
जिसके डर से
घुटने में डाले माथा
बैठे हैं सारे किसान।
कभी कभी लगता है --
डर एक पवित्र घाव है
जिसमें घेकुरी लगाय हुए
बैठा है सारा जहान।
ताबीजों के भीतर
घेकुरी लगाय हुए
बैठी हो जैसे दुआ --
बूढ़े बैठे हैं आधी रजाई में
दुबके हुए !
आज एकछत्र है कोहरा [24]

अनामिका ने इस कविता में माघ महीने में पड़ने वाली भयानक सर्दी का वर्णन किया है. इस महीने को लोक में राजा कहा गया है क्योंकि वह राजा की तरह ही कड़क है यानि इस महीने में कड़क सर्दी पड़ती है. इस कड़क राजा के डर से सारे किसान घेकुरी लगाय हुए हैं अर्थात घुटने में माथा डाल कर दुबके हुए हैं. किसान ही नहीं इस माघ के महीने में ,चारो ओर छाए कोहरे में, सारा जहान ही जैसे घेकुरी लगा कर दुबका हुआ है. अनामिका माघ, जाड़ा और घेकुरी जैसे लोक शब्दों और इनके माध्यम से निर्मित लोकस्मृति को अपनी कविता में जगह देकर उन्हें एक तरह का स्थाईत्व देती हैं. एक बड़े पाठक समूह से उनका परिचय कराती हैं. लोक को अपनी कविता में जगह देकर उसे नया जीवन देती हैं और उनकी अपनी कविता भी इस लोक की वजह से एक नयी विशेषता, नयी रंगत और नया स्वर अर्जित करती है।

निष्कर्ष :

भारतेंदु युग से लेकर आज तक की हिंदी कविता का लोक के साथ एक रिश्ता बना रहा है . यह रिश्ता एक ही जैसा नहीं रहा है .समय के साथ इसमें बदलाव आते रहा है .भारतेंदु के समय में कविता ने लोक शैलियों और ग्राम्य गीतों की शैलियों को अपनाने पर अधिक जोर दिया. कजली,

[24] अनामिका (2016),'बारामासा', आलोचना, (जनवरी -मार्च) : 13

लावणी, होली आदि के माध्यम से वे ग्रामीण जनता में नयी चेतना का प्रसार करना चाहते थे .इसके बाद द्विवेदी युगीन कवियों यथा मैथिलीशरण गुप्त आदि कि कविता में भी लोक के चित्र दिखाई दिए. छायावादी कवियों में निराला ने अपनी कविता में अनेक लोकचित्रों का प्रयोग किया. प्रगतिवादी दौर में नागार्जुन, त्रिलोचन और केदारनाथ अग्रवाल ने हिंदी कविता को क्रमशः मैथिली, अवधी- भोजपुरी और बुन्देलखंडी लोक की विशेषताओं से समृद्ध किया. प्रगतिवादियों में विशेष रूप से नागार्जुन ने अपनी व्यंग्यधर्मी और राजनीतिक कविताओं के लिए लोकधुन और लोकशैलियों का प्रयोग किया. ऐसा करने में उनको विशेष सफलता मिली है .बल्कि नागार्जुन की लोकप्रियता का राज भी इन लोकशैलियों और लोकधुनों के सार्थक और सफल प्रयोग में छुपा है. नयी कविता मुख्यतः शहरी बोध की कविता है. कुछ अपवादों को छोड़कर इस दौर की कविता में लोक की उपस्थिति नगण्य है लेकिन गिरिजा कुमार माथुर, भवानी प्रसाद मिश्र और केदारनाथ सिंह की कविताओं में लोक की उपस्थिति को देखा जा सकता है. इसी समय में हिंदी में नवगीत आन्दोलन की शुरुआत हुई. नवगीत ने हिंदी कविता में लोक छंदों और लोकचित्रों का खूब प्रयोग किया है. बाद में विमर्शों के दौर में भी हिंदी कविता ने लोक के साथ अपना नाता बनाए रखा है. एक तरफ तो लोक चित्रों और लोक धुनों के माध्यम से हिंदी कविता में नयी ताजगी आई, उसका हिंदी के विविध अंचलों से नाता गहरा हुआ, हिंदी कविता की विविधता का विस्तार हुआ -- वह अधिक उदार और लोकतान्त्रिक हुई, वहीं दूसरी ओर लोकभाषा के शब्द ,चित्र ,धुन आदि के हिंदी कविता में आने से उनके भूगोल का विस्तार हुआ- उनकी पहुँच व्यापक पाठक समूह तक संभव हुआ. लोक भाषाओं पर मंडराते भयानक खतरे के इस दौर में, हिंदी कविता ने उन भाषाओं की अंतर्ध्वनियों, शब्दों, चित्रों तथा धुनों को संरक्षित भी किया है. यह संरक्षण सिर्फ भाषाओँ के विविध उपादानों का ही नहीं है अपितु संस्कृतियों का भी है. आधुनिक हिंदी कविता लोक की ऋणी है. उसने आधुनिक हिंदी कविता के परिसर का विस्तार करते हुए उसकी विविधता को संरक्षित किया है और इस तरह उसकी मानवीयता का विस्तार किया है.

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

[1]http://www.thehindu.com/news/national/karnataka/ciil-to-document-500-endangered-languages/article5723168.ece

[2] ब्रज रत्न दास (सं) (वि.सं.2010), भारतेन्दु ग्रंथावली, खंड -3, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, बनारस

[3]श्री प्रभाकरेश्वर प्रसाद उपाध्याय व् श्री दिनेश नारायण उपाध्याय 'साहित्य रत्न (सं) (1996 वि.सं.), प्रेमघन सर्वस्व,हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग

[4]डॉ विमलेश कांति (1974), भारतेन्दु युगीन हिंदी काव्य में लोकतत्व, ऋषभचरण जैन एवं संतति, दिल्ली

[5] राम विलास शर्मा (सं) (1974), राग विराग, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद

[6] नन्द किशोर नवल (सं) (1983), निराला रचनावली, भाग -2, राजकमल प्रकाशन,दिल्ली

[7] शोभाकांत (सं) (2011), नागार्जुन रचनावली, भाग -1, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

[8] कृष्ण दत्त पालीवाल (सं) (2011), अज्ञेय रचनावली (खण्ड -1),भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली

[9] बुद्धिनाथ मिश्र (1994), शम्भुनाथ सिंह (सं), नवगीत दशक -3,पराग प्रकाशन,दिल्ली

[10] ठाकुर प्रसाद सिंह (1979),'वंशी और मादल', पराग प्रकाशन,दिल्ली

[11] अनूप अशेष (1966),'वह मेरे गाँव की हँसी थी, पराग प्रकाशन, दिल्ली

[12] वीरेंद्र मिश्र (1987), चन्दन है माटी मेरे देश की, इंडोविजन, ग़ाज़ियाबाद

[13] http://kavitakosh.org/kk/ बाँस_की_गुड़िया_/_अनुज_लुगुन; 22 नवम्बर 2017 को देखा गया.

[14] अनामिका (2016),'बारामासा', आलोचना, (जनवरी -मार्च)